श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG- 11.23 पंचम सोपान

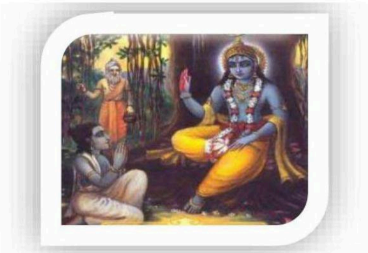

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्रीकृष्ण तैयार ।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

॥ अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

बादरायणिरुवाच
स एवमाशं(म्)सित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ 1॥

श्रीशुकदेव जी कहते हैं- परीक्षित! वास्तव में भगवान की लीला कथा ही श्रवण करने योग्य है। वे ही प्रेम और मुक्ति के दाता हैं। जब उनके परमप्रेमी भक्त उद्धव जी ने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान ने उनके प्रश्न की प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा-

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र, साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।

दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं, यः(स्) समाधातुमीश्वरः ॥ 2॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- देवगुरु बृहस्पति के शिष्य उद्धव जी! इस संसार में प्रायः ऐसे संत-पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनों की कटुवाणी से बिंधे हुए अपने हृदय को सँभाल सकें।

न तथा तप्यते विद्धः(फ्), पुमान् बाणैः(स्) सुमर्मगैः ।

यथा तुदन्ति मर्मस्था, ह्यसतां(म्) परुषेषवः ॥ 3॥

मनुष्य का हृदय मर्मभेदी बाणों से बिंधने पर भी उतनी पीड़ा का अनुभव नहीं करता, जितनी पीड़ा उसे दुष्टजनों के मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं।

कथयन्ति महत्पुण्य- मितिहासमिहोद्धव।

तमहं(वँ) वर्णयिष्यामि, निबोध सुसमाहितः ॥ 4॥

उद्धव जी! इस विषय में महात्मा लोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाउँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो।

केनचिद् भिक्षुणा गीतं(म्), परिभूतेन दुर्जनैः ।

स्मरता धृतियुक्तेन, विपाकं(न्) निजकर्मणाम् ॥ 5॥

एक भिक्षुक को दुष्टों ने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझकर कुछ अपने मानसिक उदगार प्रकट किये थे। उन्हीं का इस इतिहास में वर्णन है।

अवन्तिषु द्विजः(ख्) कश्चि- दासीदाढ्यतमः(श) श्रिया ।

वार्तावृत्तिः(ख्) कदर्यस्तु, कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ 6॥

प्राचीन समय की बात है, उज्जैन में एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था। क्रोध तो उसे बात-बात में आ जाया करता था।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य, वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ।

शून्यावसथ आत्मापि, काले कामैरनर्चितः ॥ 7॥

उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियों को कभी मीठी बात से भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलाने की तो बात ही क्या है। वह धर्म-कर्म से रीते घर में रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्ति के द्वारा समय पर अपने शरीर को भी सुखी नहीं करता था।

दुः(श)शीलस्य कदर्यस्य, द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।

दारा दुहितरो भृत्या, विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥ 8॥

उसकी कृपणता और बुरे स्वभाव के कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुःखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मन को प्रिय लगने वाला व्यवहार नहीं करता था।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य, च्युतस्योभयलोकतः ।
धर्मकामविहीनस्य, चुक्रुधुः(फ्) पं(ञ्)चभागिनः ॥ 9॥

वह लोक-परलोक दोनों से गिर गया था। बस, यक्षों के समान धन की रखवाली करता रहता था। उस धन से वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनों तक इस प्रकार जीवन बिताने से उस पर पंच महायज्ञ के भागी देवता बिगड़ उठे।

तदवध्यानविस्रस्त- पुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं(म्), बह्वायासपरिश्रमः ॥ 10॥

उदार उद्धव जी! पंच महायज्ञ के भागियों के तिरस्कार से उसके पूर्व-पुण्यों का सहारा-जिसके बल से अब तक धन टिका हुआ था-जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रम से इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखों के सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

ज्ञातयो जगृहुः(ख्) किं(ञ्)चित्, किं(ञ्)चिद् दस्यव उद्धव ।
दैवतः(ख्) कालतः(ख्) किं(ञ्)चिद्, ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ 11॥

उस नीच ब्राह्मण का कुछ धन तो उसके कुटुम्बियों ने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोप से नष्ट हो गया, कुछ समय के फेर से मारा गया। कुछ साधारण मनुष्यों ने ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्ड के रूप में शासकों ने हड़प लिया।

स एवं(न्) द्रविणे नष्टे, धर्मकामविवर्जितः ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्-चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ 12॥

उद्धव जी! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे-सम्बन्धियों ने भी उसकी ओर से मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ता ने घेर लिया।

तस्यैवं(न्) ध्यायतो दीर्घं(न्), नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य, निर्वेदः(स्) सुमहानभूत् ॥ 13॥

धन के नाश से उसके हृदय में बड़ी जलन हुई। उसका मन खेद से भर गया। आँसुओं के कारण गला रूँध गया। परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मन में संसार के प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्य का उदय हो गया।

स चाहेदमहो कष्टं(वँ), वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय, यस्यार्थायास ईदृशः ॥ 14॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा- 'हाय! हाय!! बड़े खेद की बात है, मैंने इतने दिनों तक अपने को व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धन के लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्म कर्म में लगा और न मेरे सुख भोग के ही काम आया।

प्रायेणार्थाः(ख्) कदर्याणां(न्), न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय, मृतस्य नरकाय च ॥ 15॥

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषों को धन से कभी सुख नहीं मिलता। इस लोक में तो वे धन कमाने और रक्षा की चिन्ता से जलते रहते हैं और मरने पर धर्म न करने के कारण नरक में जाते हैं।

यशो यशस्विनां(म्) शुद्धं(म्), श्लाघ्या ये गुणिनां(ङ्) गुणाः ।
लोभः(स्) स्वल्पोऽपि तान् हन्तिश्, वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ 16॥

जैसे थोडा-सा भी कोढ़ सर्वांगसुन्दर स्वरूप को बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियों के शुद्ध यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे, उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्- त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ 17॥

धन कमाने में, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में-जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है।

स्तेयं(म्) हिं(म्)सानृतं(न्) दम्भः(ख्), कामः(ख्) क्रोधः(स्) स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः(स्), सं(म्)स्पर्धा व्यसनानि च ॥ 18॥
एते पं(ञ्)चदशानर्था, ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं(म्), श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ 19॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब-ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों में धन के कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थ के विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से छोड़ दे।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः(फ्),
पितरः(स्) सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः(ख्) काकिणिना,
सद्यः(स्) सर्वेऽरयः(ख्) कृताः ॥ 20॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी-जो स्नेहबन्धन से बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं-सब-के-सब कौड़ी के कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते, संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति, सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ 21॥

ये लोग थोड़े-से धन के लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-की-बात में सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डांट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देने पर उतारू हो जाते हैं। यहाँ तक कि एक-दूसरे का सर्वनाश कर डालते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं(म्), मानुष्यं(न्) तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं(न्), घ्नन्ति यान्त्यशुभां(ङ्) गतिम् ॥ 22॥

देवताओं के भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्म को और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थ का नाश करते है, वे अशुभ गति को प्राप्त होते हैं।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं(म्), प्राप्य लोकमिमं(म्) पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत, मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ 23॥

यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्ग का द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य है जो अनर्थों के धाम धन के चक्कर में फँसा रहे।

देवर्षिपितृभूतानि, ज्ञातीन् बन्धूं(म्)श्च भागिनः ।
असं(वँ्)विभज्य चात्मानं(यँ्), यक्षवित्तः(फ्) पतत्यधः ॥ 24॥

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धन के दूसरे भागीदारों को उनका देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्ष के समान धन की रखवाली करने वाला कृपण तो अवश्य ही अधोगति को प्राप्त होता है।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं(म्), प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति, जरठः(ख्) किं नु साधये ॥ 25॥

मैं अपने कर्तव्य से च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमाद में अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकी लोग जिन साधनों से मोक्ष तक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं को मैंने धन इकठ्ठा करने की व्यर्थ चेष्टा में खो दिया। अब बुढ़ापे में मैं कौन-सा साधन करूँगा।

कस्मात् सं(ङ्)क्लिश्यते विद्वान् , व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं(लँ्), लोकोऽयं(म्) सुविमोहितः ॥ 26॥

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसी की माया से अत्यन्त मोहित हो रहा है।

किं(न्) धनैर्धनदैर्वा किं(ङ्), कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य, कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ 27॥

यह मनुष्य-शरीर काल के विकराल गाल में पड़ा है। इसको धन से, धन देने वाले देवताओं और लोगों से, भोग वासनाओं और उनको पूर्ण करने वालों से तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले सकाम कर्मों से लाभ ही क्या है?

नूनं(म्) मे भगवां(न्)तुष्टः(स्), सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां(न्), निर्वेदश्चात्मनः(फ्) प्लवः ॥ 28॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान मुझ पर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशा में पहुँचाया है और मुझे जगत् के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागर से पार होने के लिये नौका के समान है।

सोऽहं कालावशेषेण, शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे, यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि ॥ 29॥

मैं अब ऐसी अवस्था में पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभ में ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थ के सम्बन्ध में सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीर को तपस्या के द्वारा सुखा डालूँगा।

तत्र मामनुमोदेरन्, देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं(ङ्), खट्वां(ङ्)गः(स्) समसाधयत् ॥ 30॥

तीनों लोकों के स्वामी देवगण मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें। अभी निराश होने की कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा खट्वांग ने तो दो घड़ी में ही भगवद्धाम की प्राप्ति कर ली थी।

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा, ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन्, शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ 31॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उद्धव जी! उस उज्जैन निवासी ब्राह्मण ने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे' पन की गाँठ खोल दी। इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया।

स चचार महीमेतां(म्), सं(यँ)यतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं(न्) नगरग्रामा- नसं(ङ्)गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ 32॥

अब उसके चित्त में किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति न रही। उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणों को वश में कर लिया। वह पृथ्वी पर स्वच्छन्द रूप से विचरने लगा। वह भिक्षा के लिये नगर और गाँवों में जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था।

तं(वँ) वै प्रवयसं(म्) भिक्षु- मवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र, बह्वीभिः(फ्) परिभूतिभिः ॥ 33॥

उद्धव जी! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था। दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरह से उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते।

केचित्त्रिवेणुं जगृहु- रेके पात्रं(ङ्) कमण्डलुम् ।

पीठं(ञ्) चैकेऽक्षसूत्रं(ञ्) च, कन्थां(ञ्) चीराणि केचन ॥ 34॥

कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्ष माला और कन्था ही लेकर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्र को ही इधर-उधर डाल देते।

प्रदाय च पुनस्तानि, दर्शितान्याददुर्मुनेः ।

अन्नं(ञ्) च भैक्ष्यसम्पन्नं(म्), भुं(ञ्)जानस्य सरित्तटे ॥ 35॥

मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः(ष्), ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ।

यतवाचं(वँ) वाचयन्ति, ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥ 36॥

कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँग कर लाता और बाहर नदी-तट पर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिर पर मूत देते, तो कभी थूक देते। वे लोग उस मौनी अवधूत को तरह-तरह से बोलने के लिये विवश करते और जब वह इस पर भी न बोलता तो उसे पीटते।

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः(स्), स्तेनोऽयमिति वादिनः ।

बध्नन्ति रज्ज्वा तं(ङ्) केचिद्, बध्यतां(म्) बध्यतामिति ॥ 37॥

कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता। कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सी से बाँधने लगते।

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त, एष धर्मध्वजः(श्) शठः ।

क्षीणवित्त इमां(वँ) वृत्ति- मग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ 38॥

कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस कृपण ने धर्म का ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रों ने घर से निकाल दिया; तब इसने भीख माँगने का रोजगार लिया है।

अहो एष महासारो, धृतिमान् गिरिराडिव ।

मौनेन साधयत्यर्थं(म्), बकवद् दृढनिश्चयः॥ 39॥

ओहो! देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्य में बड़े भारी पर्वत के समान है। यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है। सचमुच यह बगुले से भी बढ़कर ढोंगी और दृढ़निश्चयी है'।

इत्येके विहसन्त्येन- मेके दुर्वातयन्ति च ।

तं(म्) बबन्धुर्निरुरुधुर्- यथा क्रीडनकं(न्) द्विजम् ॥ 40॥

कोई उस अवधूत की हँसी उड़ाता, तो कोई उस पर अधोवायु छोड़ता। जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियों को बाँध लेते या पिंजड़े में बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरों में बंद कर देते।

एवं(म्) स भौतिकं(न्) दुःखं(न्), दैविकं(न्) दैहिकं(ञ्) च यत् ।

भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं(म्), प्राप्तं(म्) प्राप्तमबुध्यत ॥ 41॥

किन्तु वह सब चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदि के कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदि से दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदि के द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; परन्तु भिक्षुक के मन में इससे कोई विकार न होता। वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा।

परिभूत इमां(ङ्) गाथा- मगायत नराधमैः ।

पातयद्भिः(स्) स्वधर्मस्थो, धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥ 42॥

यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरह के तिरस्कार करके उसे उसके धर्म से गिराने की चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़ता से अपने धर्म में स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्य का आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता।

द्विज उवाच

नायं(ञ्) जनो मे सुखदुः(ख्)ख हेतुर्-

न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः ।

मनः(फ्) परं(ङ्) कारणमामनन्ति,

सं(म्)सारचक्रं(म्) परिवर्तयेद् यत् ॥ 43॥

ब्राह्मण कहता- मेरे सुख अथवा दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मन को ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसार-चक्र को चला रहा है।

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-

स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि,

तेभ्यः(स्) सवर्णाः(स्) सृतयो भवन्ति ॥ 44॥

सचमुच यह मन बहुत बलवान् है। इसी ने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रहने वाली वृत्तियों की सृष्टि की है। उन वृतियों के अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस-अनेकों प्रकार के कर्म होते हैं और कर्मों के अनुसार ही जीव की विविध गतियाँ होती हैं।

अनीह आत्मा मनसा समीहता,

हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।

मनः(स्) स्वलिं(ङ्)गं(म्) परिगृह्य कामान्,

जुषन् निबद्धो गुणसं(ङ्)गतोऽसौ ॥ 45॥

मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहने पर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, मुझ जीव का सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञान से सब कुछ देखता रहता है। मन के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मन को स्वीकार करके उसके द्वारा विषयों का भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मों के साथ आसक्ति होने के कारण व उनसे बँध जाता है।

दानं(म्) स्वधर्मो नियमो यमश्च,

श्रुतं(ञ्) च कर्माणि च सद्व्रतानि ।

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः(फ्),

परो हि योगो मनसः(स्) समाधिः ॥ 46॥

दान, अपने धर्म का पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादी श्रेष्ठ व्रत-इन सब का अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाये, भगवान में लग जाये। मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।

समाहितं(यँ) यस्य मनः(फ्) प्रशान्तं(न्),

दानादिभिः(ख्) किं(वँ) वद तस्य कृत्यम् ।

असं(यँ)यत(यँ) यस्य मनो विनश्यद्,

दानादिभिश्चेदपरं(ङ्) किमेभिः ॥ 47॥

जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मों का फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है और जिसका मन चंचल है अथवा आलस्य से अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभकर्मों से अब तक कोई लाभ नहीं हुआ।

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा,

मनश्च नान्यस्य वशं(म्) समेति ।

भीष्मो हि देवः(स्) सहसः(स्) सहीयान्

युञ्ज्याद् वशे तं(म्) स हि देवदेवः ॥ 48॥

सभी इन्द्रियाँ मन के वश में हैं। मन किसी भी इन्द्रिय के वश में नहीं है। यह मन बलवान् से भी बलवान्, अत्यन्त भयंकर देव है। जो इसको अपने वश में कर लेता है, वही देव-देव-इन्द्रियों का विजेता है।

तं(न्) दुर्जयं(म्) शत्रुमसह्यवेग-

मरुन्तुदं(न्) तन्न विजित्य केचित् ।

कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-

र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥ 49॥

सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीर को ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानों को भी बेधता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्यों को चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रु पर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतने का प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्यों से झूठमूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत् के लोगों को ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं।

देहं(म्) मनोमात्रमिमं(ङ्) गृहीत्वा

ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।

एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण

दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ 50॥

साधारणतः मनुष्यों की बुद्धि अंधी हो रही है। तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीर को 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रम के फंदे में फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा। इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकार में ही भटकते रहते हैं।

जनस्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।

जिह्वां(ङ्) क्वचित् सं(न्)दशति स्वदद्भि-

स्तद्वेदनायां(ङ्) कतमाय कुप्येत् ॥ 51॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःख का कारण है, तो भी उनसे आत्मा का क्या सम्बन्ध? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचाने वाला भी मिट्टी का शरीर है और भोगने वाला भी। कभी भोजन आदि के समय यदि अपने दाँतों से ही अपनी जीभ कट जाये और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किस पर क्रोध करेगा?

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु

किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।

यदं(ङ्)गमं(ङ्)गेन निहन्यते क्वचित्

क्रुध्येत कस्मै पुरुषः(स्) स्वदेहे ॥ 52॥

यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःख के कारण हैं तो भी इस दुःख से आत्मा की क्या हानि? क्योंकि यदि दुःख के कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओं के रूप में उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं और देवता सभी शरीरों में एक है; जो देवता एक शरीर में है; वे ही दूसरे में भी है। ऐसी दशा में यदि अपने ही शरीर के किसी एक अंग से दूसरे अंग को चोट लग जाये तो भला, किस पर क्रोध किया जायेगा ?

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः(ख्),

किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।

न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्

क्रुध्येत कस्मान्न सुखं(न्) न दुःखम् ॥ 53॥

यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःख का कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ और है ही नहीं। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख, फिर क्रोध कैसा? क्रोध का निमित्त ही क्या ?

ग्रहा निमित्तं(म्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां(ङ्),

क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥ 54॥

यदि ग्रहों को सुख-दुःख का निमित्त माने, तो उनसे भी अजन्मा आत्मा की क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीर पर ही होता है। ग्रहों की पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करने वाले शरीर को ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीर से सर्वथा परे हैं। तब भला वह किस पर क्रोध करे ?

कर्मास्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।

देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं(म्) सुपर्णः(ख्),

क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥ 55॥

यदि कर्मों को ही सुख-दुःख का कारण माने, तो उनसे आत्मा का क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थ के जड़ और चेतन-उभयरूप होने पर ही हो सकते हैं। किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूप से रहने वाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मों का तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किस पर करें ?

कालस्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।

नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्,

क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥ 56॥

यदि ऐसा माने कि काल ही सुख-दुःख का कारण है, तो आत्मा पर उसका क्या प्रभाव? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आग को नहीं जला सकती और बर्फ बर्फ को नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्मा को ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किस पर क्रोध किया जाये? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्दों से सर्वथा अतीत है।

न केनचित् क्वापि कथं(ञ्)चनास्य,

द्वन्द्वोपरागः(फ्) परतः(फ्) परस्य ।

यथाहमः(स्) सं(म्)सृतिरूपिणः स्या-

देवं(म्) प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥ 57॥

आत्मा प्रकृति के स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्ध से भी रहित है। उसे कभी कहीं किसी के द्वारा किसी भी प्रकार से द्वन्द का स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकने वाले अहंकार को ही होता है। जो इस बात को जान लेता है, वह फिर किसी भी भय के निमित्त से भयभीत नहीं होता।

एतां(म्) स आस्थाय परात्मनिष्ठा-

मध्यासितां(म्) पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।

अहं(न्) तरिष्यामि दुरन्तपारं(न्),

तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ 58॥

बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस परमात्मनिष्ठा का आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसी का आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेम के दाता भगवान के चरणकमलों की सेवा के द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञान सागर को अनायास ही पार कर लूँगा।

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः(फ्),

प्रव्रज्य गां(म्) पर्यटमान इत्थम् ।

निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-

दकम्पितोऽमूं(म्) मुनिराह गाथाम् ॥ 59॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उद्धव जी! उस ब्राह्मण का दान क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसार से विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वी में स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि दुष्टों ने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्म में अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकार का गीत गाया करता था।

सुखदुःखप्रदो नान्यः(फ्), पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।

मित्रोदासीनरिपवः(स्), सं(म्)सारस्तमसः कृतः ॥ 60॥

उद्धव जी! इस संसार में मनुष्य को कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्त का भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रु के भेद अज्ञानकल्पित हैं।

तस्मात् सर्वात्मना तात, निगृहाण मनो धिया ।

मय्यावेशितया युक्त, एतावान् योगसं(ङ्)ग्रहः ॥ 61॥

इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियों को मुझ में तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मन को वश में कर लो और फिर मुझ में ही नित्य युक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योग साधन का इतना ही सार-संग्रह है।

य एतां(म्) भिक्षुणा गीतां(म्), ब्रह्मनिष्ठां(म्) समाहितः ।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्, द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ 62॥

यह भिक्षुक का गीत क्या है, मुर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्त से इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है, वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्दों के वश में नहीं होता। उनके बीच में भी वह सिंह के समान दहाड़ता रहता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)
सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे त्रयोविं(म्)शोऽध्यायः॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥